अगम महल मतवारा

(महाकाव्य)

महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया



कलासन प्रकाशन

कल्याणी भवन, वीकानेर (राज.)

ISBN 81-86842-40-3

संस्करण : प्रथम 1999

प्रकाशन . कलासन प्रकाशन
मॉडर्न मार्केट, बीकानेर (राज.)

लेजर प्रिंट : श्री करणी कम्प्यूटर एण्ड प्रिन्टर्स
गंगाशहर, बीकानेर (राज)

मुद्रक : कल्याणी प्रिन्टर्स
माल गोदाम रोड, बीकानेर

मूल्य : 140/- रुपये

Agam Mahal Matwara
(EPIC) by Mahopadhaya Manakchand Rampuria
Page : 152 Price : 140/-

समर्पणः-

युग-द्रष्टा। चैतन्य पुरुष तू-
अगम महल मतवारा।
युग-युग से तेरे वचनों की-
पीते अमृत-धारा।

वस्तु तुम्हारी, ग्रहण करो तुम-
सहज भाव-संवर्पण।
निश्छल मन से तुमको ही हम-
करते हैं यह अर्पण।।

महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया

महोपाध्याय श्री माणकचन्द रामपुरिया
संक्षिप्त परिचय

महोपाध्याय श्री माणकचन्द रामपुरिया की साहित्य साधना विरल और अनुपम है। वे शब्द संसार के अखण्ड साधक हैं। रचना उनका धर्म है; मानवीय मूल्य उनके लिए दीप्तियाँ हैं और भारतीय संस्कृति उनके लिए प्रेरणा की अजस्र धारा है। उन्होंने काव्य की सभी धाराओं में रचना की- खण्ड काव्य, स्फुट काव्य और प्रबन्ध काव्य पर उनकी विशेष पहचान महाकाव्यों के महाकवि के रूप में रही है। 1955 से अपनी काव्य यात्रा को शुरू करके उन्होंने आज तक 67 काव्य कृतियों का सृजन किया है जिनमें 30 महाकाव्य, 33 स्फुट काव्य, 3 खण्ड काव्य तथा एक शोध प्रबन्ध सम्मिलित हैं।

शब्द साधना उनके लिए यज्ञ नहीं, एक महायज्ञ है। न तो उनकी कलम विराम लेती है और न उनकी मन की तरंगें। वे 'चरैवेति-चरैवेति' के उपासक हैं। प्रकृति की तरह उनकी कविताएँ भी प्रयोजनधर्मी हैं। प्रयोजन है; इंसान को और अच्छा इंसान कैसे बनाया जाए; उसके मन से कलुष को कैसे दूर किया जाए, मानव मूल्यों का परिरक्षण कैसे हो और सृष्टिक्रम में मनुष्य की महत्ता को कैसे कायम रखा जाए।

हिन्दी साहित्य के दिग्गज साहित्यकारों और समीक्षकों ने उनकी कविताओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित शिवपूजन सहाय, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, प्रोफेसर कल्याणमल लोढा, सीताराम चतुर्वेदी, गोपालदास नीरज, अक्षयचंद्र शर्मा, कन्हैयालाल सेठिया और शंभूदयाल सक्सेना आदि सम्मिलित हैं। उनके काव्य की सराहना करने वाले और भी अनेक लोग हैं पर रामपुरियाजी का मूल लक्ष्य तो साधना है, सराहना नहीं। वे युग के काल पटल पर अपने शब्दों को अंकित करते चलते हैं; उनमें से कुछ शब्द तो कालजयी होंगे ही; बस इसी धुन में रचे जा रहे हैं- रचे जा रहे हैं। यह एक अखण्ड, अनथक यात्रा है जिसके पाथेय हैं शब्द और जिसका सम्बल है साधना।

पंडित शिवपूजन सहाय के अनुसार उनकी कृति (मधुज्वाल) "साहित्य के प्रखर प्रशस्त पथ का दीप स्तम्भ" है तो डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि "छंदों की नूतन योजनाएँ प्रस्तुत करने पर भी- मात्राओं, लय व गीत के बंधन कहीं शिथिल नहीं होते। छंदों में सर्वत्र सरल मृदुल गति है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 1963 में अभिमत व्यक्त किया था कि "रामपुरियाजी उत्साह परायण युवा कवि हैं।" डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार "उनकी कविताओं में एक संगीत है जो शब्दों की परिधि पार करके हृदय में गूंजता रहता है।" प्रोफेसर कल्याणमल लोढा उनमें "एक सिद्ध कवि की अंत:शक्ति" देखते हैं तो शंभुदयाल सक्सेना उनके काव्य में "नया स्वर, नई राग एवं नई आशा" को विद्यमान पाते हैं।

रामपुरियाजी ने महाकाव्यों की रचना में एक कीर्तिमान स्थापित किया है- संख्या की दृष्टि से भी और गुणवत्ता की दृष्टि से भी। वे निरंतर गतिशील हैं; निरंतर लिखते जा रहे हैं। बीसवीं शताब्दी को ऐसे वीतराग, अजातशत्रु और तपस्वी शब्द साधक पर गर्व है और होना भी चाहिए।

पवनपुरी, बीकानेर　　　　भवानीशंकर व्यास 'विनोद'

एक स्वगत

हाँ, यह एक स्वगत ही है। जो भी कहना था, वह तो अनायास कागज पर उतर ही गया। इसका प्रादुर्भाव कैसे हुआ; नहीं जानता। भावों का आवेग स्वयं अपना पथ निर्मित कर रहा था। इसीलिए अब जो कहना चाह रहा हूँ; वह कहना-न-कहना बराबर ही है।

कारण, सर्व विदित है- काव्य इतिहास का अनुगामी नहीं। इतिहास काल-बद्ध है। वह काल और समय की सीमाओं में चलता है। काव्य इससे मुक्त रहता है। वही किसी प्रकार की सीमा को प्रश्रय नहीं देता। इसीलिए कुछ विज्ञों ने कवि को 'कविर्मनीषी' भी कहा है। कालातीत होने के कारण ही इतिहास की अपेक्षा काव्य के साथ नैरंतर्य अधिक सापेक्ष्य है।

युग-द्रष्टा-चैतन्य पुरूष के आविर्भाव के पूर्व, केवल उनकी चिरंतन वाणी मुझे अहर्निश, उद्वेलित कर रही थी। इसके ही आलोड़न-विलोड़न का परिणाम है कि युग-द्रष्टा कवि मेरे सम्मुख साकार हो उठे और फिर लेखनी बढ़ चली। किन घाटियों और उपत्यकाओं से होकर काव्य की यह निर्झरणी चली, यह भी पूर्ण रूपेण ज्ञात नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य ज्ञात है कि मेरे सम्मुख वह युग साकार था, जिस समय महात्मा कबीर का पादुर्भाव हुआ था। इसीलिए प्रस्तुत काव्यांजलि के प्रारंभिक पाँच-छः सर्गों तक मात्र उन सारी परिस्थितियों और स्थितियों के अंकण हुए हैं; जिन्होंने कबीर जैसे युग-द्रष्टा के आर्विभाव को सम्भव बनाया। यों तो हमारे चरित्र-नायक के जन्म का कोई निश्चित उल्लेख नहीं है। फिर भी यह अधिकांशतः माना जाता है कि वे सम्भवतः 1399 इस्वी में, अर्थात् 1455 संवत् में अवतरित हुए थे। साथ ही, यह भी मान्य है कि उन्होंने एक लम्बी आयु, अर्थात् 120 वर्षों तक जीवन-यापन किया था। इस लम्बी आयु में उन्होंने जीवन के उन सभी अनुभवों को अपनी वाणियों में गुम्फित कर दिया है;

जिनका उनके जीवन से संबंध रहा था।

यह सत्य है कि कबीर जैसे नर पुंगव कभी-कभी ही धरा पर, सदियों के अन्तराल पर, आते हैं। लेकिन वे जब भी आते हैं, तब उनकी प्रासंगिकता केवल उस काल विशेष तक ही सीमित नहीं रहती। उनकी वाणी युग-युग की उद्‌बोधक होती है और वे चिरंतन सत्य की ही बातें कहते हैं।

कबीर में यह विशेषतः आद्यन्त परिलक्षित है। मैंने कबीर को इसी रूप में स्वीकार किया है। मेरा यह भाव यदि पाठकों के हृदय को छू सका, तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूँगा।

साहित्य जगत के अप्रतिम हस्ताक्षर वरेण्य कविवर भाई श्री भवानीशंकरजी व्यास 'विनोद' ने संक्षिप्त परिचय शीर्षक से जो अपना अभिमत दिया है, उसके लिए उन्हें अनेकानेक धन्यवाद।

माणकचन्द रामपुरिया

प्रथम सर्ग

जीवन का है लक्ष्य कि मानव-
परम सत्य पा जाए;
मिल असीम से बिन्दु असीमित-
सागर ही बन पाए।

वह विराट जो सत्य अखण्डित-
भेद न जिसमें रहता;
शब्द-शब्द तक उस अनन्त की-
गाथा सब दिन कहता।

परम ज्योति जो दृष्टि-सृष्टि के-
पार अहर्निश खिलती;
फूल-फूल की गंध उसी में-
अंतिम क्षण जा मिलती।

सभी ओर परिव्याप्त शिखा जो-
मानव उसका कण है;
उसको ही आवेष्टित रखता-
छोटा-सा नर तन है।

यही शिखा है मूल सृष्टि की-
कभी न जो बुझ पाती;
मिट-मिट कर हर बार धरा पर-
नूतन सृष्टि सजाती।

इसके ही अन्वेषण में तो-
कितनी सदियाँ बीतीं;
किन्तु आज भी ज्ञान-धरोहर-
बुद्धि बहुत है रीती।

जो जितना डूबा है इसमें-
उतना ही चकराया;
भ्रम-रहस्य के भेदन में ही-
विश्व सदा भरमाया।

इसी खोज में जाने कितने-
पंथ निकल कर आए;
तर्क-बुद्धि से सब हैं मंडित-
कौन किसे समझाए?

सब कहते, है शास्त्र-धर्म से-
उनका पथ अभिमण्डित;
यही सत्य है कोई इसको-
कर न सकेगा खण्डित।

वेद और वेदांग सभी की-
जिह्वा पर हैं रहते;
बात-बात में सब प्रमाण की-
बातें केवल कहते।

कर्मकाण्ड का घोर पिशाची-
रूप भुवन में छाया;
देवालय में बलि का पाशिवक-
लोहित तक बह आया।

धर्म सनातन विकृत होकर–
लगा सिसकने भू पर;
धुआँ उठा पाखण्ड–रीति का–
यज्ञ–कुण्ड के ऊपर।

सात्विकता को छोड़ मनुज था–
अन्धकार में सोया;
कौन बताए? रत्न हृदय का–
मानव ने क्या खोया?

अन्य धर्म में भी अन्धों का–
ही विश्वास भरा था;
सभी तरफ पाखण्ड–दिखावे–
का परिहास भरा था।

सच्चे पथ की खोज न कोई–
तिलभर भी थे करते;
परम्परा से एक पिण्ड पर–
शीश सभी थे धरते।

पत्थर की महिमा से आगे–
देव नहीं बढ पाए;
कोई देते बाँग गगन में–
अपना शीश उठाए।



ऐसे में ही एक अकेला–
संत धरा पर आया;
उसने जग की नई राह पर–
नव आलोक जगाया।

वह कबीर जो परम साधु था–
ज्योति जगाने वाला;
भटक रहे प्राणी को नूतन–
राह दिखाने वाला।

जिसके सत्य वचन के आगे–
जन-जन थे झुक जाते;
दिनमणि भी रथ के सँग पथ पर–
अनायास रुक जाते।

उसे प्रणाम करें हम पहले–
सादर शीश झुकाकर;
नश्वर जग में गीत अनश्वर–
मुक्त हृदय से गा कर।।

द्वितीय सर्ग

आओ, आओ ज्योति गगन की–
भूतल को सरसाओ;
अंधकार है घिरा चतुर्दिक–
इसको दूर भगाओ।

अनाचार-अन्याय भरा है-
त्राहि-त्राहि सब करते;
ऐसा तम है व्याप्त कि जन-जन-
अपनों तक से डरते।

यह समाज का अधः पतन है-
पतित हुए नर-नारी;
भ्रष्ट हुए हैं अपने पथ से-
राजा और भिखारी।

कोई भी दृढ़ नहीं कहीं है-
टेक न कोई रखता;
कैसे अपना पेट भरें है-
हर को यही दिखता।

मुगलों का शासन है भीषण-
अत्याचारी राजा;
बन्द हुआ है सब की गति के-
बढ़ने का दरवाजा।

कोई शान्त न दिखता क्षणभर-
सब सहते उत्पीड़न;
जीवन के आदर्श-भोग का-
चलता केवल शासन।

दीन-हीन है प्रजा, मौज में-
शासक केवल रहते;
न्याय और कानून वही है-
जो कुछ भी वे कहते।

उनकी मर्जी के विरुद्ध कुछ-
काम नहीं था चलता;
उनके कारण भाग्य प्रजा का-
रहा निरन्तर ढलता।

शक्ति नहीं थी, कहीं कि कोई-
कुछ विरोध कर पाए;
कोई ऐसा नहीं रहा जो-
शासक को समझाए।

शासक की इच्छा पर ही था-
सबका जीना-मरना;
काम सभी का एक मात्र था-
पेट स्वयं का भरना।

जिसको चाहा, मृत्यु-क्रोड़ में-
झोंका उसने पल में;
जो भी उठते वह जाते थे-
उसके वेग प्रवल में।

दीन-दुखी औ' निर्धन ही थी-
प्रजा भाग्य की मारी;
मुर्दा जीवन सब जीते थे-
ऐसी थी लाचारी।

शासक थे सब मुगल इसी से-
मुगलों की कुछ चलती;
लेकिन हिन्दू-प्रजा जनों की-
झोंपड़ियाँ तक जलती।

शासक कहते सब हिन्दू को-
मुसलमान बन जाओ;
धर्म तुम्हारा व्यर्थ ढोंग है-
नई राह अपनाओ।

जो भी बनते मुसलमान वे-
कुछ तो थे ही पाते;
इसीलिए वे औरों को भी-
चलते थे समझाते।

इसीलिए तो प्रजा-जनों ने-
किया धर्म परिवर्तित;
कितने हिन्दू मुसलमान बन-
हुए अचानक आहत।

इतना होने पर भी व्यापक-
कर्म नहीं हो पाया;
जिसका पड़े प्रभाव चतुर्दिक-
उसका समय न आया।

छुट-पुट टोली में बँट कर सब-
अपना राग सुनाते;
जैसे-तैसे छीन-झपट कर-
अपना काम चलाते।

गिरा समाज गर्त में भारी-
धर्म सनातन छूटा;
अपनों का संबंध पुरातन-
अपने जन से टूटा।

रीति-नीति विश्रृंखल होकर-
रही मनुज को घेरे;
घोर निराशाच्छन्न हुए थे-
विमल भाग्य के फेरे।

त्राहि-त्राहि सब ओर मची थी-
हाहाकार विपुल था;
शान्ति नहीं थी तिलभर भू पर-
सबका मन व्याकुल था।



ऐसे में ही संत-शिरोमणि-
एक धरा पर आए;
तिमिर-ग्रस्त इस भू पर निर्मल-
नव प्रकाश फैलाए।

यही समय था जब कबीर ने-
इस धरती पर आकर;
नयी रोशनी फैलायी थी-
निर्भयता से गा कर।

आओ, उन्हें करें हम वन्दन-
उनके ही गुण गाएँ;
अपने मन का कलुष मिटा कर-
विमल मार्ग अपनाएँ।।

तीसरा सर्ग

धर्म तत्त्व है एक कि जिस पर-
जीवन रहता आश्रित;
यही डोर है एक कि जिससे-
रहते सभी समन्वित।

धर्म वही है जो जीवन को-
सही मार्ग दर्शाए,
जिस पर चलकर कोई भी नर-
लक्ष्य सुनिश्चित पाए।

धर्म वही है जिससे जन-जन-
रहते हैं नित आवृत;
धर्म-भाव के कारण ही जन-
होते सदा समादृत।

यों तो सब का अलग-अलग ही-
धर्म सभी बतलाते;
किन्तु धर्म के गूढ़ मर्म में-
भेद नहीं रह जाते।

जन-जीवन में धर्म सदा है-
एक लक्ष्य का बन्धन;
इसीलिए तो सदा धर्म का-
होता है अभिनन्दन।

जल का है यह धर्म कि शीतल-
करे सभी की काया;
अग्नि-धर्म ने इस भूतल पर-
सबको सदा जलाया।

सब का अपना-अपना होता-
धर्म यही निश्चित है;
सभी तत्त्व में भिन्न-भिन्न ही-
होता धर्म फलित है।

यही धर्म है युग विशेष की-
भौतिकता का पालक;
डोर क्षणिक है; किन्तु सभी की-
बनती है यह रक्षक।

इससे पर विपरीत एक है-
युग-युग का संवाहक;
वही धर्म का होता जग में-
शाश्वत गुण-संचायक।

युग का धर्म क्षणिक है लेकिन-
पाता सबसे आदर;
जीवन-रण में हर क्षण इसको-
देना है प्रति उत्तर।

जिस क्षण जो भी उचित कर्म है-
वही धर्म कहलाता;
प्रतिपल के इस आगत को युग-
धर्म जगत बतलाता।

युग-युग का जो धर्म उसे तो-
शाश्वत रूप मिला है;
परम सत्य के अवलोकन का-
उसमें पुष्प खिला है।

उसी धर्म का लेते हैं सब-
संत जगत में आश्रय;
उसी मार्ग पर चलने से तो-
बनता जीवन अक्षय।

लेकिन युग का धर्म जगत में-
जहाँ भ्रष्ट हो जाता;
वहीं अनेकों विपदाओं का-
मेह तुरत मँडराता।

पल-पल जो करणीय रहा है-
उस पर सब है निर्भर;
उससे ही सजता है सात्विक-
भौतिक जीवन का स्वर।

जब भी हुई अधोगति युगों-
तब-तब विपदा आई;
क्रूर काल की वक्र दृष्टि से-
सृष्टि रही भरमाई।

युग का धर्म हुआ जब विचलित-
युग-युग का भी विखरा;
सत्य किरण पर रहा न कोई-
सात्विकता का पहरा।

घोर अनैतिकता की हलचल-
दिग-दिगन्त तक छाई;
अनाचार-आचार बीच ही-
बुद्धि रही भरमाई।

रहा न जो करणीय उसी पर-
सबका मन ललचाया;
मिथ्या-दम्भ-दिखावे में ही-
सबने सत्य गँवाया।

सत्य वही है, जो इस भू पर-
कभी न हो परिवर्तित;
सत्य रूप ही होता पल पल-
भूतल पर आवर्तित।

किन्तु सत्य के इस स्वरूप को-
नहीं किसी ने जाना;
जन-जन ने फिर पक्ष समर्थन-
का ही किया बहाना।

धर्म-भाव के नेताओं में-
अहं भाव था भीषण;
प्रतिपल रहे दिखाते वे ही-
जीवन में नव नर्त्तन।

किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हुए थे-
साधारण जन-प्राणी;
उनको मूर्ख बनाते थे नित-
ढोंगी धर्म गुमानी।

  

यही समय था जब इस भू पर-
संत कबीर पधारे;
आओ, अपनी भाव-सुरभि से-
उनके चरण पखारे।

धर्म-भाव के कोलाहल में-
गूँजी उनकी वाणी;
कही उन्होंने निर्भय होकर-
बात विमल कल्याणी।

किसी तरह की वहाँ नहीं है-
लाग-लपट की रेखा;
कहा उन्होंने यही कि जो निज-
नयनन से था देखा।

अगम महल मतवारा ।

उन्हें प्रणाम करें हम सादर-
      जय कबीर जय संतों;
सात्विक ध्वज फहराने वाले-
      जय-जय-जय गुण-वंतों।।

चौथा सर्ग

जीवन एक प्रवाह निरंतर-
चलता ही जो रहता;
पग-पग पर आघात अजाने-
सुख-दुख का नित सहता।

सुख मिलने पर मन मुस्काता-
हास अधर पर खिलता;
रो उठता मन जब अनजाने-
दुख है आकर मिलता।

सुख-दुख के कूलों में बँधकर-
बहती जीवन धारा;
सीमित क्षण में सोचो; क्या है-
मेरा और तुम्हारा?

सब अनन्त की ज्योति-शिखा है-
देखो खुले दृगों से;
किन्तु दूर क्यों नर है, पूछो-
मन के चपल मृगों से।

यही भेद है, जो जीवन को-
शान्त न रहने देता;
जीवन को विद्रूप बनाकर-
स्वत्व सभी हर लेता।

भौतिकता के क्षणिक वेग में-
मानव जब बह जाता;
तब अनन्त की लक्ष्य-ज्योति से-
दूर सदा रह जाता।

वह युग तो था महाकलंकी–
सब में लोभ जगा था;
कैसे दाँव सधे, इस पर ही–
सब का ध्यान लगा था।

युग-युग क्या? युग-धर्म बना था–
सभी तरह से गर्हित;
सभी क्षेत्र में जन-जन तक का–
जीवन हुआ कलंकित।

बड़ी व्यथा थी, बड़ा क्षोभ था–
जन-जन था अकुलाता;
कोई भी जीवन का सच्चा–
मार्ग नहीं था पाता।

राज-नीति औ' अर्थ-नीति का–
निम्न रूप था भू पर;
भीषण दुष्प्रभाव था पड़ता–
जन-जीवन के ऊपर।

राज-नीति थी भ्रष्ट कि जिसमें–
कोई बोल न सकता;
अपने मन की व्यथा किसी के–
आगे खोल न सकता।

शासक की इच्छा पर शासन-
चलता भ्रमित-निरंकुश;
पीड़ित करते निर्बल जन के-
घर में भी नित घुस-घुस।

न्याय नीति की बात नहीं थी-
कौन किसे समझाता?
शासक ही अत्याचारी हो, तब-
किसको कौन बचाता?

अपने-अपने सब थे विह्वल-
व्याकुलता थी छाई;
दुराचार की प्रबल आग ही-
पड़ती थी दिखलाई।

इसी अग्नि में झुलस रही थी-
जनता बनकर निर्बल;
समझ न पाती कब होगी अब-
शान्त व्यथा की हलचल?

अर्थ-नीति थी ऐसी जिससे-
जन-जन बने भिखारी;
मुश्किल से दो जून उदर-
भरने की आती बारी।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]



घोर निराशा जब आती है-
    तब अध्यात्म जगाता;
डूबे मन के गहन तिमिर में-
    नव आलोक जलाता।

किन्तु यहाँ अध्यात्म ज्योति की-
    दुही-दुही लौ लगती;
तरह-तरह के पंथों की ही-
    शिखा यहाँ थी जगती।

सच्चा मार्ग बताता कैसे-
    तथाकथित जन-नेता;
पाखण्डी-ढोंगी से दिखते-
    प्रायः धर्म प्रणेता।

ऐसे में ही दिव्य कमल-सी-
ज्योति धरा पर आई;
इसने ही जन-जन को भू पर-
निर्मल राह बताई।

आओ, उसी संत को हम सब-
कर लें क्षणभर वन्दन;
प्रथम उषा की किरण उसी का-
करती नित अभिनन्दन।।

पाँचवा सर्ग

सत्य ब्रह्म है एक अलौकिक-
भौतिकता से ऊपर;
उसकी शक्ति अपरिमित से ही-
चलता है संवत्सर।

कण-कण तक को देख रही है-
उसकी दृष्टि सुहानी;
जन-जन तक को मार्ग दिखाती-
वही शक्ति कल्याणी।

पाप-कर्म की अति होने पर-
विभा पुण्य की आती;
शुभ्र दृष्टि से पाप-ताप की-
सारी शक्ति मिटाती।

उसी शक्ति का अवलम्बन ले-
जीवन भव में बढ़ता;
परम ज्योति के नव प्रकाश में-
शैल-शिखर पर चढ़ता।

अग-जग के हर कुशल क्षेम का-
एक वही संरक्षक;
उसी ज्योति के लिए बने हैं-
सत्-चेता भी याचक।



परम सत्य की उसी शक्ति के-
माध्यम बने कबीरा;
आए लेकर इस धरती पर-
ज्ञान-शक्ति गम्भीरा।

अब तक जग के कण-कण पर था-
आडम्बर अठखेला;
लगा हुआ था ढोंगी जन का-
एक बड़ा-सा मेला।

थे अज्ञानी, किन्तु ज्ञान का-
पहने थे सब बाना;
ज्ञात न था उनको इस जग में-
क्यों है आना-जाना।

सच्चे संतों का करते थे-
ये जन सदा अनादर;
तरह-तरह की ठग-विद्या में-
रहते थे नित तत्पर।

धर्म नाम का भाव नहीं था-
काम एक था ठगना;
उन्हें पता क्या, अन्धकार से-
होता कैसे जगना?

किसको कहते धर्म-क्षेत्र, वह-
कालिख का ही घर था;
काजल के इस शून्य कक्ष में-
अपनों से भी डर था।

  

भौतिकता का जीवन यापन-
भी था जग में पंकिल;
जान न पाता था कोई भी-
जीवन की क्या मंजिल।

दीन-हीन-दारिद्र-ग्रस्त थे-
भूतल के सब प्राणी;
सभी तरह से भ्रष्ट हुए थे-
पाखण्डी अभिमानी।

किसी क्षेत्र में शुभ लक्षण का-
चिह्न नहीं था दिखता;
एक-एक कौड़ी की खातिर-
जन-जन तक था बिकता।

ऐसे में ही परम संत का-
ज्ञान लिए जो आया;
उस कबीर ने इस दुनिया को-
नूतन मार्ग दिखाया।

मिथ्या-ढोंगी-आडम्बर पर-
किया प्रहार हृदय से;
जन-मानस को निडर बनाया-
अपनी उक्ति अभय से।

सब क्षेत्रों में उसने खुलकर-
अपनी शक्ति दिखाई;
नयी चेतना अनायास ही-
इस धरती पर आई।

जो भी जैसा उसे दीखता-
शुद्ध हृदय से कहता;
सत्य कथन के लिए निरंतर-
कटु प्रहार भी सहता।

उसी संत की महिमा गाकर-
अपना हृदय सँवारें;
सत्य पुरुष को निर्मल वाणी-
में ही सदा पुकारें।

  

आज हमारी धरती पर भी-
वही समय है आया;
वैसे ही जीवन का हमने-
ढोंगी रूप सजाया।

इसीलिए प्रासंगिक है हम-
उसको पुनः पुकारें;
परम संत की वाणी से ही-
अपना भाग्य सँवारें।

परम संत की जय की गाथा-
मन ही मन हम गाएँ;
भावों में निज विमल सुमन से-
अपनी भक्ति दिखाएँ।

हृदय-कक्ष में उसे बिठाकर-
करें उसी का कीर्त्तन;
निर्मल गायन से ही होगा-
पावन भव का जीवन।

निर्मलता की ज्योति नयन में-
सब दिन रहे प्रकाशित;
परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ही-
जीवन हो उद्भाषित।।

छठा सर्ग

संतों की लीला है अद्भुत-
कोई जान न पाता;
उनका प्रकट वचन जीवन का-
सारा भेद बताता।

इसीलिए संतों का उद्‌भव-
कहना बड़ा कठिन है;
धूप-छाँव का खेल वहाँ पर-
होता ही हर क्षण है।

है रहस्यमय जन्म कि कोई-
जान नहीं कुछ पाते;
सब कबीर के वचनों पर ही-
अपना ध्यान लगाते।

नीमा-नीरू मात-पिता थे-
यही लोग बतलाते;
युग-युग से ऐसे कथनों को-
जन-जन हैं दुहराते।

कुछ जन कहते, कोई हिन्दू-
विधवा के हैं बालक;
अनायास ही उसे मिला था-
ज्ञान-ज्योति-संवाहक।

क्या यही है रामानँद के-
पास पधारी बाला;
उसने सोचा- संत यही है-
मंगल करने वाला।

परम संत तब सच्चे मन से-
'पुत्रवती हो' बोले;
विधवा थी, लज्जा से सारे-
अंग-अंग तक डोले।

रामानन्द देखकर बोले-
जाओ मत घबड़ाओ;
जान न पाएगा कोई भी-
मन में दृढ़ता लाओ।

संत उक्ति तो कभी धरा पर-
वृथा नहीं हो पाती;
उसकी वाणी अनुपम महिमा-
सब दिन है दिखलाती।

यही हुआ शुभ समय प्राप्त कर-
विधवा ने सुत जाया;
जिसे लहर तारा के जल में-
उसने स्वयं बहाया।

एक जुलाहे नीरू ने ही-
इस बालक को पाया;
अपनी पत्नी नीमा को दे-
उसने हर्ष मनाया।

हिन्दू विधवा-सुत का पालन-
हुआ जुलाहा-घर में;
इसीलिए संस्कार नया ही-
जागा उनके स्वर में।

हिन्दू सुत थे, हिन्दू घर का-
रक्त मिला था उनको;
पालन से संपृक्त किया था-
अन्य भाव ने मन को।

इसीलिए द्वन्द्वात्मक सब दिन-
है कबीर का दर्शन;
दो भावों के गुम्फन में ही-
परिलक्षित है जीवन।

बड़ी कुशाग्र बुद्धि थी उनकी-
बचपन से थे ज्ञानी,
बातें कहते वही कि जो थी-
जीवन हित कल्याणी।

रामानँद के शिष्य हुए ये-
अपनी छोटी वय में;
रहने लगे सदा ही अपने-
मन के शून्य निलय में।

सदा रहे वे निर्भय मन से-
हुए न तिलभर व्याकुल;
जो देखा औ' जैसा समझा-
कहा वही निःसंकुल।

वचपन से उपदेश इन्होंने-
शुरू किया था देना;
इन्हें नहीं था इस समाज से-
तिलभर भी कुछ लेना।

इसीलिए निःसंशय होकर-
वोले- संत कवीरा;
जो आयेगा, प्राप्त करेगा-
ज्ञान अतुल गम्भीरा।

कविरा खड़ा वजार में-
लिए लुकाठी हाथ।
जों फूकैं घर आपना-
चलै हमारे साथ।

उनकी निर्भय उक्ति मनुज के-
श्रवण-रन्ध्र में आई;
दिग-दिगन्त तक सहज सुरति की-
गाथा पड़ी सुनाई।

संत-सुजन को करते हैं हम-
मन से सादर वंदन;
उनकी भाव-सुरभि है जग के-
भव्य भाल पर चंदन।।

सातवाँ सर्ग

परम सत्य से मंडित निर्मल-
आतीं जब प्रतिभाएँ;
अपनी छटा स्वयं बिखेरती-
उनकी दिव्य शिखाएँ।

एक दिवस रामानँद जी थे-
अपनी पूजा करते;
ठाकुर जी की ग्रीवा में पर-
कैसे माला धरते?

सोच रहे थे- माला छोटी-
सिर से नहीं उतरती;
कैसे डालें यही भावना-
मन में नहीं उभरती।

मुकुट उतारें, तो अमान्य का-
भाव वहाँ है आता;
इसी सोच में विकल हुआ-सा-
मन उनका घबड़ाता।

इतने में बाहर से कोई-
बोला, युक्ति लगाओ;
गाँठ पड़ी जो उसको खोलो-
माला को पहनाओ।

एक दिवस तर्पण करने को-
गुरु ने दूध मँगाये;
मृतक धेनु के खाने को वे-
दुर्वादल ले आये।

लोग हँसे तब बोले- पूर्वज-
लेंगे तर्पण जैसे;
मरी गाय भी घास यहाँ की-
खाएगी ही वैसे।

यह कबीर का अक्खड़पन था-
अद्‌भुत प्रतिभाशाली;
यही ज्योति थी परम अलौकिक-
राह दिखानेवाली।

छोटे और बड़े का उनको-
कुछ भी भेद नहीं था;
निराकार जो सत्य ब्रह्म है-
उनका ध्यान वहीं था।

किन्तु हृदय के हर साधन में-
अनुभव की थी आभा;
इसीलिए उनके अन्तर में-
कभी न जागी द्वाभा।

अपने गुरु से भी कहने में-
कुछ संकोच न माना;
गुरु भी जान गए थे इसने-
परम तत्त्व पहचाना।

इनके सब कर्मों से होता-
नूतन पथ आलोकित;
जो भी करते उससे होता-
अगजग सदा प्रकाशित।

रहे जुलाहे के घर इससे-
कपड़ा बुनते दिनभर;
करघा-करनी के सुर में था-
राम-नाम का ही स्वर।

यही नाम अवलम्ब बना था-
उनका जीवन-दर्शन;
जन-जन को सम्मोहित करता-
इसका ही आकर्षण।

लेकिन इनका राम नहीं है-
राजा अवध-निवासी;
अलख-निरंजन, निराकार है-
घट-घट का अधिवासी।

सब तत्त्वों में वही एक है-
देख नहीं हम पाते;
उसी ब्रह्म से विलग हुए सब-
प्राणी हैं अकुलाते।

कहै कबीर विचार के, जाके बरन न गाँव।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव।।
कबीर महिमा नाम की, कहना कही न जाय।
चार मुक्ति औ चार फल और परम पद पाय।।

इसी भाव में संत-शिरोमणि-
हर क्षण, हर पल रहते;
इसी निरंजन अलख हंस की-
बात सभी से कहते।

वंदन औ' अभिनन्दन उसका-
जिसने राह दिखाई;
तम से घिरी सघन धरती पर-
जीवन ज्योति जगाई।

रहकर सदा गृहस्थ रूप में-
राग अलौकिक गाया;
उस कबीर के आगे सब ने-
अपना शीश नवाया।

जय-जय हम भी कहते उनकी-
सादर गाथा गाते;
उनके शब्द-शब्द पर मन के-
भावुक पुष्प चढ़ाते।।

आठवाँ सर्ग

परम तत्त्व की प्राप्ति कहीं भी–
कोई भी कर सकता;
कुछ भी कठिन न उसको, जिसमें–
साधन की है दृढ़ता।

घिरे गृहस्थी में भी मानव-
ब्रह्म रूप हो जाता;
निर्मल मन के साधन से ही-
हृदय-कमल मुस्काता।

यही कबीर कहा करते थे-
मन में अलख निरंजन;
उसी पिया को सदा बनाओ-
अपने दृग का अंजन।

उसको बाहर कभी ना ढूँढो।
मन का वह अधिवासी;
उसी पिया के हित रहती है-
अँखियाँ हर पल प्यासी।

स्वयं कबीर गृहस्थ थे सच्चे-
पत्नी उनकी लोई;
परम साधिका, अपने पिय के-
रँग में ही थी धोई।

कोई कहते शिष्या थी वह-
अतुल साधना वाली;
शान्त शिखा-सी निज साधन में-
प्रतिपल जलनेवाली।

जो भी हो, पर सद्-गृहस्थ की-
उसमें थी गुणवत्ता;
साध रही थी उसे कि जो है-
जग की अनुपम सत्ता।

उसे कमाल-कमाली जैसी-
दो संताने भी थीं;
दोनों श्रद्धावंत समादृत-
अपने जैसी ही थीं।

कोई कहते दो मुर्दों को-
प्राण-दान ही देकर;
आए थे कबीर निज घर में-
दोनों को ही लेकर।

यह बालक औ' यही बालिका-
उनकी थीं संतानें;
यही चार उस संत-गृहस्थी-
के थे ताने-बाने।

चार जनों से घर था शोभित-
परम शान्ति का डेरा;
यहाँ नहीं था किसी तरह के-
द्वेष-कलह का फेरा।

परम शान्ति से सब रहते थे-
सुख से पल-पल कटते;
निराकार अदृश्य सनातन-
अगम राम को रटते।

राम-राम कह-कह पट बुनकर
राम-हाट में लाते;
राम-राम ग्राहक से कहकर-
कपड़ा उन्हें दिखाते।

जो धन मिलता उसे राम का-
ही प्रसाद-सा लेकर;
मोद-मगन रहते थे घर में-
पत्नी को सब देकर।

सबसे कहते- ले लो भइया-
राम चदरिया बीनी;
राम-नाम की ही सुगंध है-
इसमें भीनी-भीनी।

पुलकित मन से सब कामों को-
काम राम का कहते;
सभी काम में राम-राम ही-
प्रतिक्षण रटते रहते।

सब से कहते– राम हृदय में–
वहीं मिलेगा साईं;
भीतर जो है अलख उसी की–
बाहर है परिछाईं।

मंदिर–मस्जिद मैं क्यों जाऊँ?
वहाँ नहीं है स्वामी;
मेरे रोम–रोम में रमता–
मेरा अन्तर्यामी।

मोको कहाँ ढूँढ़ै बंदे, मैं तो तेरे पास में
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना कावे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया–कर्म में, नाहीं योग–वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलि हौं पलभर की तलास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वांसों की स्वांस में।

इसी अगम अवनिश्वर को वे–
सब दिन थे दुहराते;
उसी राम का कीर्त्तन अपने–
भक्ति–भाव से गाते।

थे कबीर बस यही बताते–
राम सभी में बसता;
वही अकेला सभी जीव में–
रोता और विहँसता।

उसी राम की लगन लगे पर-
सब साधन मिल जाते;
अगजग तक के विमल फूल फूल-
पतझड़ में खिल जाते।

उसी राम के परम भक्त का-
यश हम सब दुहराएँ;
राम नाम की अनुपम महिमा-
के नव गीत सुनाएँ।

नवम सर्ग

सत्य ब्रह्म का कभी न होता–
किसी तरह परिवर्त्तन;
भिन्न-भिन्न नामों से उसका–
होता है आवर्त्तन।

यही सत्य है निर्गुण मत का-
एक अखंडित संबल;
यह आधार एक है जिस पर-
खिलता जीवन-शतदल।

रामानँद साकार ब्रह्म के-
थे उज्ज्वल संपोषक;
हिन्दू-मत की एक विभा के-
वे ही थे उद्‌घोषक।

किन्तु कबीर, नहीं थे उनके-
इस पथ के अनुगामी;
वे थे परम विरागी मन से-
निराकार के कामी।

जीवन के हर दर्शन में थी-
उनकी दृष्टि अलौकिक;
थे गृहस्थ, पर नहीं कभी थे-
मन से तिलभर भौतिक।

पले जुलाहा घर में जिससे-
आई तीव्र विविधता;
हिन्दू-मत के संस्कार में-
जागी कुछ नूतनता।

घोर गरीबी के जीवन में-
क्षणभर हार न मानी;
साधन के निष्कलुष शिखा की-
ज्योति सदा पहचानी।

यही ध्येय था, मानव पथ पर-
अपने ही बढ सकता;
साधन-श्रम से परम लक्ष्य के-
श्रृंगों पर चढ़ सकता।

मानव के इस क्षुद्र पिण्ड में-
है विराट आवेष्टित;
है ब्रह्माण्ड निखिल का रूपक-
पिण्ड स्वयं में सीमित।

इसीलिए ब्रह्माण्ड बीच जो-
वही पिण्ड में हँसता;
वहाँ अगम का रूप निहित जो-
मानव में भी बसता।

किन्तु मनुज भौतिकता में ही-
डूबा; सब कुछ खोया;
शक्ति विराट भूल कर अपनी-
निर्बलता में रोया।

साधन से ही लक्ष्य सुनिश्चित–
मानव का हो जाता;
इसी मार्ग से चलकर सब कुछ–
जीवन में नर पाता।

इस साधन में नहीं कहीं है–
मनुज–मनुज में अन्तर;
भेद–भाव का यहाँ नहीं है–
कोई भी आडम्बर।

जात–पाँत की नहीं यहाँ है–
कोई दुविधा–शंका;
लक्ष्य–भ्रष्ट होने की तिलभर–
यहाँ नहीं आशंका।

खुला पृष्ठ है, जो आएगा–
सब कुछ ही वह लेगा;
बदले में गुरु के चरणों में–
अपना सब कुछ देगा।

परम संत से भिन्न नहीं है–
महिमा गुरु की भू पर;
उसे सभी कुछ मिलता गुरु में–
जो रहता है तत्पर।

यही सीख थी परम संत की-
जग ने जो अपनाया;
खुद कबीर ने कह-कह कर यह-
दुनिया के समझाया।

जात-पाँत का भेद नहीं था-
नहीं कहीं था झगड़ा;
मंदिर का या मसजिद का था-
वहाँ न कोई पचड़ा।

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरत हैं, दुविधा में लिपटाना।
घर-घर मंत्र जो देत फिरत हैं महिमा में अभिमाना।
गुरुवा सहित शिष्य सब डूबे, अंत काल पछिताना।



ना जाने तेरा साहब कैसा है।।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?
चिउँटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहिरी नेंव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है।
कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में धरता है।
जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि-बहि मरता है।
सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, विस्या पहिरे खासा है।

जेहि घर साधू भीख न पावै मडुवा खात वताशा है।
हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है।
कहत कवीर सुनो भाइ साधो हरि जैसे को तैसा है।

इसी तरह की वात अनेकों-
निर्भय मन से वोले;
सव रहस्य कवीर ने भव के-
सव के सम्मुख खोले।

उनकी अक्खड़-निर्भय वाणी-
है अद्भुत वलशाली;
महा तिमिर में यही शिखा है-
ज्योति जलाने वाली।

आओ हम सव नमन करें उस-
परम शक्ति उद्भव को;
यही समन्वित आशा देगी-
गिरे हुए इस भव को।

दूर हटेगी गह्वर तमिस्रा-
ज्योति पुनः उतरेगी;
शक्ति वरण करने को धरती-
दुख से फिर उवरेगी।

जय कबीर जय परम सत्य की-
आओ शीश नवाएँ;
भावी के इस अरूणोदय से-
अपनी आँख मिलाएँ।।

दसवाँ सर्ग

शुद्ध प्रेम का वास जहाँ है-
संत वहीं पर रहते;
परम सत्य जो प्रेम रूप है-
बात उसी की कहते।

उसके आगे हिन्दु-मुस्लिम-
का कुछ भेद न रहता;
सत्य कथन के लिए सदा ही-
दुख अपरिमित सहता।

था कबीर का वचन प्रेममय-
नहीं किसी ने जाना;
उनके सत्य प्रेम को जग ने-
मन से कभी न माना।

जब कबीर ने कहा कि जग ने-
राह नहीं है पाई;
अपनेपन में ही रहती है-
यह दुनिया भरमाई।

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पाइन-तर सोवै यह देखो हिन्दु आई।
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहि में करै सगाई।
बाहर से इक मुर्गा लाये धोय-धोय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिल जेंवन बैठीं घर-भर करै बड़ाई।
हिन्दुन की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह हुवै जाई।

सुनकर खारा वचन सब ने ही-
थे कबीर को त्यागे;
उनके सब संबंधी अपने-
तक थे उनसे भागे।

चिकनी-चुपड़ी बात सभी जन-
सुनकर नहीं अघाते;
जो ऐसी बातें करते हैं-
पास वहीं सब जाते।

रहे कबीर सदा निःसंगी-
कहते सब से न्यारे;
इसीलिए उनसे रहते थे-
सब जन दूर किनारे।

तरह-तरह के उत्पीड़न भी-
देते थे सब उनको;
कोई देख न पाते निश्छल-
उनके मन के गुण को।

लेकिन वे तो सिद्ध पुरुष थे-
रहते थे नित निर्मल;
किसी तरह का वहाँ नहीं था-
मन में कोई संशय।

निखिल सृष्टि यह क्षण भंगुर है-
पल-पल मिटने वाली;
इसी मध्य है हमें खोजनी-
अपने प्रभु की लाली।

सद्गुरू ही यह राज बताते-
जिससे सब कुछ मिलता;
उनकी निमिष दृष्टि से उर का-
कोकोनद था खिलता।

रहना नहिं देस विराना है।
यह संसार कागद की पुडिया, बूँद पडै धुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरू नाम ठिकाना है।

अखिल विश्व के सत्य तत्त्व की-
वाणी रहे सुनाते;
इस कबीर से भक्त-संत तो-
कभी-कभी हैं आते।

कहा उन्होंने सब कुछ मिटना-
शेष न कुछ रह जाता;
मिटने से केवल प्रभु-प्रेमी-
बचा स्वयं को पाता।

ग्यारहवाँ सर्ग

सुरभि सुमन से दिशा-दिशा तक-
होती सदा सुवासित;
उसी तरह संतों की महिमा-
करती सदा प्रकाशित।

कहीं किसी कोने में कोई-
फूल सुगंधित विहँसे;
सत्य यही है, छिप न सकेगा-
जग के नयन चपल से।

संतों का भी यही हाल है-
छिप न सके वे जग में;
खोज-खोज जन आ जाते हैं-
उनके ध्यान सुभग में।

हुए प्रसिद्ध कबीर जगत में-
संत बड़े हैं ज्ञानी;
लगी भीड़ जुटने उनके घर-
जन-जन की अनजानी।

कुछ आते थे श्रद्धा से कुछ-
व्यंग्य भाव से आते;
कुछ जन के अन्तर में यों ही-
द्वेष-क्षोभ भर जाते।

काशी के पंडित जन ने भी-
उनको थे अजमाए;
उनके सिद्ध-सत्य पर जाने-
कितने वाण चलाए।

एक बार इन लोगों ने था-
कंगलों को बुलवाया;
पर कबीर को नहीं किसी ने-
कुछ भी था बतलाया।

कंगालों से कहा कि न्योता-
है कबीर का जाओ;
खाने का है तुम्हें बुलावा-
जी भर कर सब खाओ।

लोग हजारों पहुँच गए जब-
तब कबीर ने जाना;
समझ गए, पर उचित न समझा-
यह रहस्य बतलाना।

तुरत कबीर ने हांडी भर कर-
कुछ भोजन पकवाया;
राम-नाम-चादर से ढँककर-
सब को वही खिलाया।

उस थोड़े से भोजन से ही-
तृप्त हुए थे सब जन;
और अन्त तक बचा हुआ था-
हांडी में कुछ भोजन।

संत-भक्त की लीला इसको-
कोई समझ न पाता;
सत्य-व्रह्म अपने प्रेमी की-
हर क्षण लाज वचाता।



थे कबीर उस सत्य-प्रेम के-
एक अखण्ड पुजारी;
भेद नहीं था कहीं दृष्टि में-
सृष्टि एक थी सारी।

परदा दृग का जव हटता है-
सभी एक हो जाते;
भिन्न-भिन्न प्राणी भी मानो-
वही रूप झलकाते।

आत्म और परमात्म विम्ब में-
सव अभिन्न हो जाता;
शब्द-शब्द में उसी तत्त्व का-
अनहद राग सुनाता।

सदगुरू की ही कृपा कोर से-
सारा भ्रम मिटता है;
एक अनेक और अनेक में-
एक सत्य दिखता है।

इसीलिए तो कहा उन्होंने-
अपना राग जगाकर;
भ्रम में फँसे हुए लोगों को-
सत्य-रूप दिखलाकर।

साधो, सो सतगुरु मोहि भावै।
सत्त प्रेम का भर-भर प्याला, आप पिवै मोहि प्यावै।
परदा दूर करै आँखिन का ब्रह्म दरस दिखलावै।
जिस दरसन में सब लोक दरसै, अनहद शब्द सुनावै।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, शब्द में सुरत समावै।
कहैं कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परसावै।।

अलख ब्रह्म को सत्य दृष्टि से-
देखा औ' पहचाना;
इससे आगे पंथ न दिखता-
यही सदा था माना।

इसी सत्य के लिए उन्होंने-
सब पंथों को साधा;
यौगिक कार्यों में भी उनको-
मिली न कोई बाधा।

जहाँ ध्यान योगी का रहता-
सदा वहीं रहते थे;
मुक्त हंस-से मानस-सर की-
बात सदा कहते थे।

जीवन की कोई भी बाधा-
वहाँ नहीं आ पाती;
सदगुरू की ही सहज कृपा से-
सभी सुखद बन जाती।

वहाँ पहुँच कर जनम-जनम की-
तृषा स्वयं मिट जाती;
मुक्तात्मा हो उसी लोक में-
अपनी जोत जगाती।

यही उक्ति भी है कबीर की-
आएँ, हम दुहराएँ;
उनकी ही वाणी में उनके-
निर्मल पद को गाएँ।

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै जहँ-तहँ हंसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।

काल कराल विकट नहिं आवै, काम-क्रोध-मद-लोभ अरै।
जुगन-जुगन की तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अथ-व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहू न मरै।

अलख निरंजन निराकार का-
रूप यही है निर्मल;
केवल वाणी ही बनती है-
उसका अविकल संबल।

सत्य ब्रह्म के प्रेमी की हम-
गाथा कैसे गाएँ;
सकल सृष्टि में वही रूप है-
जाने; शीश झुकाएँ।।

बारहवाँ सर्ग

कभी-कभी ऐसा होता है-
लोग-बाग मँडराते;
अनाहूत इस भीड़-भाड़ में-
काम नहीं हो पाते।

तभी भाव यह जगता कैसे-
सब को दूर भगाएँ?
भीड़ भरे जग से अपने को-
कैसे तनिक हटाएँ?

हुए प्रसिद्ध कबीर जगत में-
तब वे भी घबड़ाए;
लगे सोचने कैसे इनसे-
अपनी जान बचाएँ?

यही सोच कर एक शराबी-
का बाना अपनाया;
वेश्या-ग्रीवा में कर देकर-
अपने साथ घुमाया।

लिए हाथ में पानी भरकर-
ज्यों शराब की बोतल;
निकल चले पग डग-मग धर कर-
करते कुछ कोलाहल।

उन्हें देखकर बोले-जन-जन-
हुआ भ्रष्ट यह प्राणी;
कितना नीचे। आह गिरा यह-
बनता था जो ज्ञानी।

भागे उनसे दूर लोग कुछ-
अपनी नाक सिकोड़े;
कहते यह अब पतित हुआ है-
इसकी सोहबत छोड़ें।



काशी नृप के पास एक दिन-
इसी वेश में आए;
घोर पियक्कड़ के जैसा ही-
अपना रूप बनाए।

व्यंग-उपेक्षा का नरेश ने-
कुटिल भाव दर्शाया;
तुरत वहीं सहसा कबीर ने-
चमत्कार दिखलाया।

तुरत वहीं उँड़ेल दी बोतल-
सारा नीर बहाया;
चिंतित से फिर लगे सोचने-
सब पर अचरज छाया।

नृप ने पूछा- क्यों चिंतित हैं-
बात बताएँ, क्या है?
कहा तुरत ही तब कबीर ने-
क्या समझाएँ, क्या है?

जगन्नाथ जी के सुआर का-
ही उपचार किया है;
झुलस रहा था उसको मैंने-
इससे बचा लिया है।

नृप ने दूत भेज कर तत्क्षण-
सब कुछ पता लगाया;
देखा- बात सही थी सारी-
सत्य तथ्य था आया।

राजमहल में फिर कबीर की-
बढ़ी प्रतिष्ठा भारी;
देखा सबने परम ज्ञान की-
ज्योति अतुल बलिहारी।

परम सिद्ध जो ज्ञानी रहते-
स्वयं ब्रह्म हो जाते;
अगम तत्त्व की सभी शक्तियाँ-
अनायास ही पाते।

काल और आकाश तत्त्व की-
सीमा वहाँ न रहती;
दिक्-दिक् कालातीत ध्वजा ही-
उनकी सदा फहराती।

कण भर की इच्छा की भी जो-
धार वहाँ से आती;
अनायास वह शक्ति धरा पर-
काम अतुल कर जाती।

जीवन और मरण है सीमा-
बन्धन का आगन्तुक;
उसकी सीमाहीन शक्ति के-
आगे यह है कौतुक।

चाहे जिसे जिलाए, मारे-
शक्ति ब्रह्म से थोई;
परम सिद्ध के लिए नहीं है-
बड़ी बात यह कोई।

उसकी इच्छा पर ही केवल-
यह ब्रह्माण्ड है चलता;
सभी तत्त्व में औ' सभी रूप में-
वही निरंतर ढलता।

ब्रह्म और इस सिद्ध पुरुष में-
कहीं नहीं है अन्तर;
एक रूप है दोनों का ही-
यह निर्मल अभ्यन्तर।

है कबीर ने भी इस जग को-
ऐसा ही समझाया;
लीन ब्रह्म में रहनेवाला-
ब्रह्म रूप हो आया।

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया दरिया लहर समाय।।
उनमुनि सों मन लागिया, गगनहिं पहुँचा आय।
चाँद-विहूना चाँदना, अलख निरंजन राय।।
गगन गरजि बरसै अमी बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिशि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर।।



लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।
जिन पावन भुईं बहु फिरे, घूमे देस-विदेस।
पिया मिलन जब होइया आँगन भया विदेस।।

कहा यही कबीर ने जग में-
ब्रह्म सदा है एक;
उसी एक के इस धरती पर-
मिलते रूप अनेक।

जो भी साधक उस अदृश्य का-
अपना है बन जाता;
वह अनन्त की अगम शक्ति को-
अनायास है पाता।

परम सिद्ध इस योग-पुरुष पर-
तन-मन-धन हम वारें।
उन्हें प्रणाम-नमन कर अपना-
जीवन स्वयं सँवारें।

उनके विमल ज्ञान की, कण भर-
ज्योति धरा पर आए;
धरती का सौभाग्य अचानक-
धन्य-धन्य हो जाए।।

तेरहवाँ सर्ग

धरती पर अधिकांश लोग-
अज्ञान तिमिर में रहते;
भाग्य-भरोसे, शीत लहर औ'-
आतप-वर्षा सहते।

अपने जीवन की भी उनको-
थाह न कोई मिलती;
नीरस सूखे उस जीवन की-
कोई कली न खिलती।

ऊँचा पद पाकर भी ये जन-
मन से रहते छोटे;
शुद्ध भाव से दूर, हृदय के-
होते हैं ये खोटे।

उनके मन में सात्विकता के-
भाव न कोई जगते;
कलह-द्वेष की ज्वाला में ही-
रहते पल-पल पगते।

खुले दृगों से नहीं देखते-
सुनते बस कोलाहल;
कुटिल भाव संपोषक होते-
श्रवणों के अति दुर्बल।

कोई भी कुछ कहता उस पर-
कार्य तुरत ही करते;
अंतिम क्या परिणाम निहित है-
इस पर ध्यान न धरते।

ऐसा ही उस काल नृपति था-
केवल सुनने वाला;
सुनी-सुनाई बातों पर-
आदेश सुनानेवाला।

कुछ पंडित मुल्लों ने उल्टी-
पट्टी उन्हें पढ़ाई;
है कबीर ढोंगी, पर उसकी-
होती बहुत बड़ाई।

सुनकर बादशाह की भौंहें-
झट टेढ़ी हो आई;
संत कबीर दास के प्रति फिर-
गाली उन्हें सुनाई।

नृपति सिकन्दर लोदी ही था-
अपने में भरमाया;
उल्टी-सीधी कहकर सब ने-
उसको था बहकाया।

उसने तुरत क्रोध में आकर-
चाहा था मरवाना;
बादशाह होकर भी उसने-
नहीं संत को जाना।

जंजीरों में कस कबीर को-
गंगा में डुबवाया;
पर आश्चर्य! कि संत वहाँ से-
बचकर बाहर आया।

इसी तरह फिर जलती ज्वाला-
में था उसको डाला;
मरा न लेकिन, अलख-निरंजन-
का प्रेमी-मतवाला।

उन्हें कुचलवाना फिर चाहा-
हाथी के पद-तल से;
किन्तु अलौकिक शक्ति न दबती-
भौतिकता के बल से।

बादशाह ने कितने ही-
हथकंडे थे अपनाए;
उनके चाहे पर कबीर तो-
नहीं कभी मर पाए।

जिसमें शक्ति अलौकिक आती-
उसको किसका डर है;
निखिल विश्व की शक्ति अपरिमित-
उसकी चितवन-भर है।



तरह-तरह के संकट आए-
किन्तु नहीं वे डोले;
राम-लगन के वचन सभी से-
दास कबीरा बोले-

मेरा तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।
मैं कहता हों आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जगन समझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारै खोई रे।
सतगुरू धारा निर्मल बाहै, वा मैं काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे।

सदा कबीर वही कहते थे-
जैसा अनुभव करते;
दुनिया की वे किसी बात से-
कभी नहीं थे डरते।

अन्य लोग तो सुनी-सुनाई-
बातों पर थे चलते;
भौतिकता के तुच्छ प्रलोभन-
में ही रहे पिघलते।

इसीलिए दुनियावालों से-
मेल न उनका बैठा;
एक तरफ थे खुद औ' जग था-
अलग कहीं पर ऐंठा।

सावधान सब को करते थे-
किन्तु न कोई सुनता;
माया के फंदे में यह जग-
अपना मस्तक धुनता।

कोई संत कृपा जब करता-
तब माया हट पाती;
उसे प्रणाम करें, जिससे वह-
विमल चेतना आती।।

चौदहवाँ सर्ग

थे कबीर चैतन्य-पुरुष जो–
माया से ऊपर हैं;
जिनके शब्द-शब्द में रहता–
करुणा का ही स्वर है।

सबका हो कल्याण उसी में-
अपना समय बिताते;
जो जिज्ञासू बनकर आता-
सब कुछ उसे बताते।

भक्त-जनों के सम्मुख मन में-
भेद न कोई रहता;
सब रहस्य खुल जाता मन में-
प्रेम उमड़ने लगता।

एक वैश्य काशी का था, जो-
धर्मदास कहलाता;
अन्य पंडितों-सा मंदिर में-
वह भी दीप जलाता।

उसने जब देखा कबीर को-
भाव विमल जग आया;
किन्तु सनातन पंडित जन की-
भी थी उस पर माया।

उसने तब शास्त्रार्थ कराया-
पंडित जन समुचित से;
किन्तु सनातन पंडे हारे-
उनके वचन उचित से।

वे कबीर के सुरत-ज्ञान के-
आगे ठहर न पाए;
प्रेम-भक्ति के अनुभव के कुछ-
राज न बतला पाए।

धर्मदास सहसा कबीर का-
गुरुमुख शिष्य हुआ था;
परम ज्ञान के अगम भाव का-
पावन दृश्य हुआ था।

यह कबीर की महिमा थी जो-
खींच सभी को लेती;
उनकी करुणा जन-जन तक को-
परम शान्ति थी देती।

वे थे सबको परम शान्ति का-
ही संदेश सुनाते,
भव का रहे न क्लेश जहाँ पर-
बात वही बतलाते।

शील-तोप समदृष्टि जगाकर-
हृदय शुद्ध कर जाते;
जहाँ अहर्निश प्रेम-रूप में-
रहते हैं प्रभु आते।

सील-संतोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि में पूरा।
ताके दरस-परम भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा।
निसि-वासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै।
करनी-धरनी संगीत गावै, प्रेम रंग उड़ावै।
राग-स्वरूप अखडित अविचल, निर्भय वेपरवाई।
कहै कबीर ताहि पद परसो घट-घट सब सुखदाई।

इसी प्रेम के सत्य कथन को-
सब जन थे दुहराते;
जो भी पास यहाँ आते थे-
इसमें ही रम जाते।

यही कबीर सदा कहते थे-
भटक गए हैं प्राणी;
इस दुनिया में कष्ट झेलते-
बनकर सब अज्ञानी।

वही क्लेश से बचता जिसमें-
ज्ञान-शिखा जग जाती;
अलख-निरंजन राम-नाम की-
सुरति जिसे अपनाती।

वही देख यह पाता सब में-
एक रूप है जगता;
उसी एक से सभी जुड़े हैं-
अन्य न कोई लगता।

जात-पाँत औ' ऊँच-नीच का-
भाव न उसमें आता;
नर-नारी का रूप न उसको-
तिलभर भी भरमाता।

अपनी वानी में कवीर ने-
कितना सत्य कहा है;
वही ठाँव है, प्रेम जहाँ से-
वनकर अभिय बहा है।

इसी प्रेम के रस में सब दिन-
निर्मल जन हैं रहते;
भेद-दृष्टि को हटा भुवन में-
सुख से सदा विचरते।

शब्द-शब्द में है कबीर के-
इसी वात का वर्णन;
करते सदा मुमुक्षु जीव को-
इसी ज्ञान का अर्पण।

साधो एक रूप सब माहीं।
अपने मनहिं विचार कै देखो और दूसरो नाहीं।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै, विप्र सूद्र के माहीं।
कहीं नारि कहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं।
सब्द पुकारि सत्र में भाखौं अन्तर राखौं नाहीं।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निरमल विरलै ताहि लखाहीं।

यह कबीर की परम सिद्धि है-
सब में प्रभु का दर्शन;
वह स्वरूप है सभी रूप में-
सब कुछ का आकर्षण।

जीवन में जो भिन्न दृष्टि या-
भेद दिखाई पड़ता;
माया का ही विकट रूप है-
आँखों की है जड़ता।

यह जड़ता-संशय-संभ्रम तो-
मुश्किल से है जाता;
जिसमें ज्ञान-प्रकाश विमल है-
केवल वही मिटाता।

महामोह के इस घेरे को-
माया ही बतलाते;
जनम-जनम से जीव इसी में-
रहते आते-जाते।

आना-जाना, जन्म-मरण का-
टूटे जिससे बन्धन;
वही संत-उद्धारक बनकर-
पाता सबका वन्दन।

हम कबीर से संत-भक्त के-
आगे शीश नवाते;
उनसे ज्ञानामृत पाकर हम-
अजर-अमर पद पाते।।

पन्द्रहवाँ सर्ग

सिद्ध पुरुष के सिद्ध वचन से-
सीख जगत को मिलती;
लेकिन प्रभु की मर्जी के बिन-
पत्ती एक न हिलती।

है समर्थ कर सकता सब कुछ-
किन्तु सृष्टि का होकर;
चलता है इस भूतल पर वह-
नियम धरा का ढोकर।

प्रकृति-नियति की कभी उपेक्षा-
संत नहीं है करता;
दिखलावों से बचकर ही वह-
फूँक-फूँक पग धरता।

अपने साधन से कबीर ने-
दुर्लभ पद थे पाए;
जहाँ पहुँच कर किसी संत में-
तृप्ति स्वतः आ जाए।

उनके निर्गुण का आराधन-
एक परम साधन है;
उनके आगे इस धरती का-
छिपा न कोई कण है।

परम लक्ष्य है यही अगम का-
जिस पर संत पहुँचते;
जन्म-जन्म तक इसीलिए वे-
साधन करते चलते।

वे जो कहते दुनियावाले-
समझ न उसको पाते;
इसीलिए तो रहे कबीरा-
जीवन भर समझाते।

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै।
नैनन अलाव लखावै।।
प्राण पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रुँधे पवन न रोके, नहिं भव खंड तजावै।।
यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै जो ऐसी जुगत लखावै।।
सदा विलास त्रास नहिं तन में, भोग मे जोग जगावै।
धरती-पानी आकाश-पवन में अधर मँडैया छावै।।
सुन्न सिखर के सार सिला पर आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै।।

सदा कबीर यही कहते थे-
अपने को पहचानो;
ब्रह्म मिलेगा, लेकिन पहले-
अपने को ही जानो।

निखिल सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म है-
वही रूप है तेरा;
अपने को पहचान गए तो-
मिले अगम का डेरा।

सदगुरू के मिलने पर ही नर-
लक्ष्य प्राप्त कर सकता;
उनकी कृपा-कोर के कण से-
शून्य स्वतः भर सकता।

थे कवीर वह संत कि जिनमें-
दैवी शक्ति अमित थी;
प्रभु की इच्छा, उनकी इच्छा-
ऐसी भक्ति अमित थी।

फिर भी वे धरती के नियमों-
की रक्षा करते थे;
निश्छल रहते, कुछ करने का-
दम्भ नहीं भरते थे।

अगम प्राप्ति के साधन में ही-
अपना समय विताते;
इंगला-पिंगला और सुपम्ना-
को अवलम्ब वनाते।

षट्-चक्रों को बेध किया था-
सहस्रार पर आसन;
बड़ा कठिन होता है भू पर-
संतों का यह जीवन।

वे जो कहते दुनियावाले-
समझ न उसको पाते;
इसीलिए तो रहे कबीरा-
जीवन भर समझाते।

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै।
नैनन अलाव लखावै।।
प्राण पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रुँधे पवन न रोके, नहिं भव खंड तजावै।।
यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै जो ऐसी जुगत लखावै।।
सदा विलास त्रास नहिं तन में, भोग मे जोग जगावै।
धरती-पानी आकाश-पवन में अधर मँडैया छावै।।
सुन्न सिखर के सार सिला पर आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो वाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै।।

सदा कबीर यही कहते थे-
अपने को पहचानो;
ब्रह्म मिलेगा, लेकिन पहले-
अपने को ही जानो।

निखिल सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म है-
वही रूप है तेरा;
अपने को पहचान गए तो-
मिले अगम का डेरा।

इसके बाद नहीं कुछ भी है–
इस धरती पर पाना;
नहीं कभी फिर होगा जग में–
तेरा आना-जाना।

तभी तलक है जन्म-मरण, जब–
तलक रहे अज्ञानी;
सीमाओं के पार पहुँचता–
अपने-पन का ज्ञानी।

युक्ति वही बतलाता सदगुरू–
दृग जिससे खुल जाते;
मानस-सर के हंसा के फिर–
रूप सामने आते।

जब तक इसका पता न चलता–
लोग भटकते रहते;
सुगम पंथ है किन्तु जगत के–
लोग भटकते रहते।

अपने को जो जान गया वह–
स्वयं ब्रह्म बन जाता;
अपने से कुछ भिन्न सृष्टि में–
देख नहीं वह पाता।

लेकिन कोरी पुस्तक की है–
बात नहीं यह सारी;
अनुभव में जीने की करनी–
होती है तैयारी।

अतः कबीर जगत से बोले–
होकर भव से निर्भय;
अपने भीतर पैठो, देखो–
कैसी जोत निरामय।

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात।।
कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव।।

सीख यही दी है कबीर ने–
अनुभव-ज्योति जगाओ;
दृष्टि जहाँ मिल सकती सच्ची–
ध्यान वहीं पर लाओ।

हम कबीर के शब्द-शब्द पर–
जाते हैं बलिहारी;
न्योछावर है युग-दृष्टा पर–
भव की सम्पति सारी।।

सोलहवाँ सर्ग

यही कबीर कहा करते थे-
भीतर खूब सँवारो;
वहीं मिलेंगे पिय तुम्हारे–
मन का दियरा बारो।

बाहर के पूजा-व्रत को तो-
खेल सदा बतलाते;
कहते, उससे नहीं ध्यान में-
पिया हिया के आते।

बाहर का दिखलावा भर है-
टीका-टोपी-चंदन;
इसे छोड़ कर अपने मन में-
करो ब्रह्म का वन्दन।

ब्रह्म तुम्हारा तुम में ही है-
बाहर कभी न झाँको;
सुरति-तूलिका से उस पिय का-
चित्र हृदय में आँको।

वहीं मिलेगा तभी जीव का-
कष्ट मिटेगा सारा;
पिया न जब तक मिलते तब तक-
जीवन है अँधियारा।

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुडियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल।।

बाहर के आडम्बर को तो-
नहीं कभी था माना;
सत्य-मार्ग के लिए इसे तो-
बन्धन ही था जाना।

सब को सदा बताते थे, प्रभु-
बाहर नहीं मिलेगा;
तभी मिलेगा, साधन से जब-
मन का कमल खिलेगा।

साधन का यह ज्ञान धरा पर-
केवल सदगुरू देते;
साधक के हर कुशल-क्षेम का-
भार स्वयं जब लेते।

उन्हें पता है साधक कितनी-
गति से क्या कर सकता?
राह दिखाने से उस पथ पर-
कहाँ तलक जा सकता?

यों तो बात सभी कर जाते-
लेकिन कौन ठहरता?
साधन की उस कठिन धार पर-
सब का हृदय भरमता।

जिसने मन को मार हृदय में-
अपना ध्यान जमाया;
वही सपूत हुआ धरती पर-
उसने सब कुछ पाया।

सदगुरू ही जब राह दिखाता-
अनुभव में तब आता;
और नहीं तो समझाने से-
पता नहीं चल पाता।

अनुभव की ही ये बातें हैं-
कही नहीं जा सकतीं;
कितना भी कह जाए, मन में-
कभी नहीं आ सकतीं।

जब तक अपने ध्यान न देगा-
क्या जानेगा क्या है?
अन्धा जग क्या बतला सकता-
उस प्रकाश में क्या है?

आँख खुलेगी तब देखेगा-
कैसा है उजियारा?
किस आसन पर बैठा है वह-
मेरा साईं प्यारा?

चलन-चलन सबको कहत है
नाँ जानौं वैकुंठ कहाँ है।
जोजन एक प्रमिति नहिं जानैं,
बातनि ही वैकुंठ बखानैं।।
जब लग है वैकुंठ की आसा,
तब लाग नहिं हरि चरन निवासा।।
कहें- सुनें कैसे पति अइये,
जब लग तहाँ आप नहिं जइये।।
कहै कबीर यहु कहिये काहि,
साधो संगति वैकुंठहि आहि।।

थी कबीर की उक्ति यही सब-
निज चरित्र में लाओ;
भेद न कथनी-करनी में हो-
एक रूप दर्शाओ।

दृग को उलट स्वयं को जाने-
तभी मिलेगा साईं;
और नहीं तो मिल न सकेगी-
उसकी कोई झाईं।

बात कही जो भी कबीर ने-
मन से हम अपनाएँ;
तभी जान पाएँगे क्यों कर-
रहते हम भरमाए।

उनके अनुभव पर जीवन की–
शिखा सुनहली जगती;
जीवन के अँधियारे में भी–
अन्तर बाती जगती।।

सत्रहवाँ सर्ग

किसी जन्म में किए कर्म की-
छाप नहीं मिट पाती;
शुभ चिन्तन की पुण्य-भावना-
अपनी छवि दिखलाती।

थे कबीर-सम्पन्न-साधना-
पूर्व जन्म में निश्चय;
इसीलिए थे बचपन से ही-
सिद्ध-योग-वरूणालय।

कोई साधन बचा नहीं था-
सबके थे पारंगत;
सभी दृष्टि से साधन में थे-
सभी तरह से उन्नत।

विमल दृष्टि से सब जीवों के-
रहते हित के कामी;
सकल सिद्धियाँ अनायास थी-
इच्छा की अनुगामी।

करने को कल्याण सभी का-
हरक्षण रहते तत्पर;
निर्मल मन थे, लोभ-मोह से-
रहते हरदम ऊपर।

यही समय था भटक रहे थे-
जग के सारे प्राणी;
भ्रष्ट पंथ दिखलाते उनको-
पाखण्डी अभिमानी।

तथाकथित था साधु बने ही–
ढोंगी जन का मेला;
अनजाने में ही सूने में सब–
फेंक रहे थे ढेला।

ज्ञान–लोक से दूर सभी थे–
बनते थे पर ज्ञानी;
विमल साधना त्याग सभी जन–
करते थे मनमानी।

किन्तु कबीर सभी को कहते–
ज्ञान न ऐसे मिलता;
कठिन साधना से ही नर का–
ज्ञान–चक्षु है खुलता।

ज्ञान–योग के पथ पर चलकर–
परम सिद्धि जो पाते;
वे ही ज्ञानी आत्मबली–जन–
जग को राह दिखाते।

थी कबीर के साधन में सब–
क्रिया, योग की आई;
अपनी वाणी से भी उसने–
इसको है बतलाई।

बाह्य नहीं, अभ्यन्तर में है–
चक्र अवस्थित नर के;
लक्ष्य मनुज पाता है केवल–
उनका वेधन करके।

मूलाधार बसा है नीचे–
देव गणेश यहाँ हैं;
स्वाधिष्ठान यहाँ से ऊपर–
ब्रह्म-देव जहाँ हैं।

मणिपूरक के नाभि-कमल पर–
विष्णु देव है भास्वर;
चक्र अनाहत इसके ऊपर–
रहते जिस पर शंकर।

है विशुद्ध जो चक्र वही है–
मेरुदण्ड में ऊपर;
भृकुटि मध्य है आज्ञा जिस पर–
गुरु ही रहते तत्पर।

इसके ऊपर अष्टकमल का–
एक चक्र है शोभित;
परम ब्रह्म होता रहता है–
इस पर ही आलोकित।

इन चक्रों के बेधन से ही-
परम शक्ति नर पाता;
जन्म-मरण का कष्ट अपरिमित-
स्वयं शेष हो जाता।

किन्तु यहाँ तक आने का पथ-
केवल गुरु बतलाता;
सदगुरु के बिन यहाँ तलक तो-
कोई पहुँच न पाता।

जो जन यहाँ पहुँच पाते हैं-
संत वही कहलाते;
सब जीवों के हित साधन का-
मार्ग वही बतलाते।

ऐसे ही थे यह कबीर भी-
परम तत्त्व के ज्ञानी;
सब जीवों के हित साधन की-
कही इन्होंने वाणी।

परम तत्त्व के उस आसन पर-
जो भी जन हैं आते;
वे मतवारे, ज्ञान-भक्ति का-
अमृत सब दिन पाते।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मुनि चढ़ा गगन-रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा, भव-भाठी करि भारा।
सुषमन-नारी सहज समानी, पीवै पीवन हारा।
दोई पुड़ जोडि चिगनाई, भाठी चुआ महा रस भारी।
काम-क्रोध-दुइ किया पलीता, छुटि गई संसारी।
सुनि मंडल में मँदला बाजै, तहँ मेरा मन नाचै।
गुरुप्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै।
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यो तप की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भव बन्धन छूटै, जोतिहि जोत समानी।।

परम सत्य की परम ज्योति से-
यहीं ज्योति मिल जाती;
किसी तरह की रात अँधेरी-
यहाँ नहीं रह पाती।

संत कबीर सभी दिन सब को-
यही रहे बतलाते;
अपने साधन करने से नर-
ऊँचे पद को पाते।

वाणी उनकी जन कल्याणी-
ज्ञान-विभा बरसाती;
शुद्ध-विशुद्ध हृदय से दुनिया-
आज तलक दुहराती।

संत कबीर करेंगे भू पर-
ऐसी ज्योति प्रकाशित;
जिसके मधुरस से यह धरती-
होगी सदा सुवासित।।

अठारहवाँ सर्ग

संत कबीर यही कहते थे-
जग है एक झमेला;
यहाँ अहर्निश चलता रहता
माया का ही खेला।

काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कोड़ी कानी।।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।

जिसमें जिसको आकर्षण है-
माया वह बन जाती;
धर कर रूप सलोना जग में-
जीवों को भरमाती।

इस माया का संग छूटना-
बड़ा कठिन है लगता;
तभी छूट पाती है माया-
जीव स्वयं जब जगता।

यह माया है मिथ्या लेकिन-
सत्य विभासित होती;
इसके सपने में जीवन की-
कितनी मणियाँ खोतीं।

इसके कारण जनम-जनम तक-
जीव भटकता रहता;
दुनिया में वह काम कदम-कदम पर-
कष्ट अपरिमित सहता।

माया ही पंडित भी बनती-
ज्ञानी-विज्ञ-विचारक;
यही कहीं पर घृणा-द्वेष की-
बनती है परिचायक।

इसके संख्यातीत रूप को-
कोई जान न पाया;
इस माया के कारण जग में-
मन सबका भरमाया।

सब कहते हैं यही कि इससे-
बचकर रहना भाई;
जब तक पास रहेगी माया-
नहीं मिलेगा साईं।

राम तेरी माया दुंदु मचावै।
गति-मति वाकी समझि परै नहिं, सुर-नर मुनिहिं नचावै।।
का सेमर के साखा बढ्ये, फूल अनुपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत सुवा उड़ानी।।
कहा खजूर बडाई तरी, कल कोई नहीं पावै।
ग्रीसम रिस अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै।।
अपना चतुर और को सिखवै, कामिनि-कनक सयानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो, राम-चरण रति मानी।।

इसी बात के सब रहस्य को-
संतों ने बतलाया;
जीवन कैसे सुधर बनेगा-
भक्तों को समझाया।

साधारण मानव तो अपने-
सीमित क्षण में रहता;
किन्तु पास ज्ञानी के सम्मुख-
दिशाकाल सब जगता।

बीत गया जो वह भी उसके-
आगे दृग में आता;
और भविष्यत का भी क्षण में-
रूप वहाँ दिख जाता।

इसीलिए इन सब से आगे-
संत देखता जग को;
अलग सदा माया से रखता-
अपने ज्योतित मग को।

उसके पथ पर माया की कुछ-
चाल नहीं चल पाती;
संतों के आगे ठगनी की-
दाल नहीं गल पाती।

माया का परदा जब हटता–
परम पुरुष मुस्काता;
जिसे ढूँढ़ता जीव जगत में–
स्वतः सामने आता।

तोको पीव मिलैंगे घूँघत के पट खोल रे।
घट-घट में वही साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन-जोवन की गरव न कीजै, झूठा पँचरँग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बार ले, आसा सों मत डोल रे।
जोग जुगत सो रंग महल में, पिय पाई अनमोल रे।
कहै कबीर आनन्द भयो है बाजत अनहद ढोल रे।

परम संत के आगे कोई–
खेल नहीं चल पाता;
इसीलिए जग संत-चरण पर–
मस्तक सदा झुकाता।।

उन्नीसवाँ सर्ग

परम संत की दृष्टि सदा ही-
रहती निर्मल पावन;
सभी तरह से वह होती है-
जग-हित का सम्भावन।

रश्मि-किरण से फूलों के दल-
खिलकर जैसे धुलते;
संत-वचन से जग-जीवन के-
सब रहस्य हैं खुलते।

संतों की वाणी में केवल-
सत्य उतर कर आता;
जो करता विश्वास वही नर-
सच्चा पथ अपनाता।

सत-पथ पर जो चलते उनके-
आगे तिमिर न रहता;
सदगुरू का दृढ भाव उन्हें ही-
सदा जिलाए रखता।

सत्य-पंथ के पंथी के हित-
है कबीर की वाणी;
सत्-गुरू का नित ध्यान करो तुम-
बनकर निर-अभिमानी।

करो सदा सत्संग कि मन में-
अनमिल भाव न जागे;
माया का षड्यंत्र तुम्हारे-
आगे से ही भागे।

मन से वर्धन करो निरंतर-
परम ब्रह्म के गुण का;
सोते-जगते जीवन भर तुम-
स्मरण करो नित उनका।

हर संकट में उन्हें निहारो-
आशिष उनकी मानो;
फूल-शूल में एक उसी को-
सदा प्रतिष्ठित जानो।

सुख देता है वही और फिर-
दुःख उसी से मिलते;
काँटे उसने दिए, उसी से-
मृदुल फूल हैं खिलते।

सत्य-झूठ कुछ नहीं सभी हैं-
उसकी ही अनुकम्पा;
उससे ही है प्रकट दिवाकर-
भाव हृदय का झंपा।

वही एक है सब तत्त्वों में-
देख नहीं हम पाते;
अपने मन की निर्बलता को-
उसके चरण चढ़ाते।

थे कबीर के शब्द यही तुम-
अपने को पहचानो;
पंच तत्त्वमय तन के भीतर-
छिपे ब्रह्म को जानो।

सद्‌गुरू ही वह मार्ग बताते-
जिससे प्राणी जगते;
वही दृष्टि देते हैं जिससे-
सब कुछ निर्मल लगते।

यों तो माया की चादर में-
हम सब रहते लिपटे;
अपने ही संकीर्ण बंध में-
रहते हैं हम सिमटे।

यह बन्धन तो तभी टूटता-
सत्पथ पर जब मुड़ते;
सत्य किरण की डोर चिरंतन-
से आकर जब जुड़ते।

विकट पंथ है भौतिकता का-
जो सबको उरझाता;
कदम-कदम पर जिसके कारण-
श्याम मेघ ही छाता।

इससे बाहर आ जाने का-
सदगुरू मार्ग बताता;
पथ के अगम अँधेरे में वह-
खुद प्रकाश बन जाता।

सदगुरू के बिन कोई साधक-
उधर नहीं जा सकता;
ज्ञान-विभा की एक किरण भी-
कभी नहीं पा सकता।

सदगुरू का ही बल है केवल-
जिससे भव-तम कटता;
पथ का सारा विघ्न स्वयं ही-
पलभर में ही हटता।

साँई से लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूँद का, पिया-पिया रट लाई।।
प्यासे प्राण तड़फै दिन-राती और नीर ना आई।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुनन को जाई।।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहिं डराई।
जैसे सती चढ़ी सत-ऊपर पिया की राह मन भाई।।
पावक देख डरे वह नाहीं, हँसत बैठे सदा गाई।
छोड़ो तन अपने की आसा, निर्भय हुवै गुन गाई।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नाहिं तो जनम नसाई।।

जो नर इस पथ नहीं चला है-
व्यर्थ सदा वह जीवन;
किसी काम का नहीं जगत में-
उसका सारा तन-धन।

है कबीर ने यही कहा, मत-
भौतिकता अपनाओ;
दुविधा-ग्रस्त बँटे अन्तर से-
मत तुम पाँव बढाओ।

चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आय के, सावित गया न कोय।।
भाई वीर बटाउआ, भरि-भरि नैन न रोय।
जाका था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय।।



देह-धरे का दण्ड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय।।
तकत तकावत तकि रहै, सके न बेझा मारि।
सवै तीर खाली परे, चले कमानी डारि।।

मानव जीवन के पथ का सब-
उसने राज बताया;
कैसे भव की कटे तमिस्रा-
उसने है समझाया।

धन्य कबीर कि जिस पर मानव-
अपना ध्यान लगाए;
जीवन की हर विकट राह को-
मनहर-सुखद बनाए।

सदियों के ही बाद धरा पर-
ऐसा नर है आता;
जिसके आगे अहंकार तज-
मानव शीश झुकाता।।

बीसवाँ सर्ग

जीवन धारा कभी एक-सी-
नहीं प्रवाहित होती;
तरह-तरह की बाधाओं का-
भार अहर्निश ढोती।

कभी विकट चट्टान पंथ में-
अनायास मिल जाती;
कभी किनारे तट से लगकर-
कली-कली मुसकाती।

कभी किसी गड्ढे के बन्धन-
में धारा पड़ जाती;
कभी अचानक प्रबल वेग से-
पर्वत को दहलाती।

कहीं रूकावट मिलती, धारा-
वेग कहीं धर लेती;
बिछुड़ गयी लहरों को बढ़कर-
अगों में भर लेती।

कहीं फूल मिलते हैं पथ में-
कहीं रेत मिल जाती;
किन्तु विराम न मिलता तब तक-
धारा राह बनाती।

संतों का जीवन भी प्रतिपल-
ऐसे ही है चलता;
कभी फूल-सा खिलता पथ पर-
कभी दीप-सा जलता।

लेकिन उनकी जीवन-यात्रा-
है आदर्श कहानी;
जिसे समझती बड़ी देर से-
यह दुनिया अज्ञानी।

ज्योति-शिखर से उस कबीर को-
कितनों ने था जाना?
बहुतों ने तो नहीं उन्हें था-
जीवन में पहचाना।

किन्तु समय है बड़ा पारखी-
तथ्य नहीं छिप पाता;
असली तत्त्व उभर कर अपने-
जन-जन पर छा जाता।

निश्छल अन्तर से कबीर ने-
जो उपदेश दिया था;
नर-नारी के हित की खातिर-
जो भी काम किया था।

अब तक अम्बर में बचकर वह-
चमक रहा ध्रुव तारा;
कितनों ने उस विमल ज्योति से-
अपना भाग्य सँवारा।

लक्ष्य मनुज का क्या है इसकी-
सारी बात बताई;
उस तक जाने की भी सारी-
उक्ति-युक्ति समझाई।

सखि, वह घर सब से न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।
जहँ न सुख-दुख साँच-झूठ नहिं पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चंद नहिं सूरज, बिना जोत उजियारा।।
नहिं तहँ ग्यान-ध्यान नहि जप-तप वेद-कितेव न बानी।
करनी धरनी, रहनी, गहनी ये सब उहाँ हेरानी।।
घर नहि अधर न बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्मांड कछु नाहीं।
पाँच तत्र गुन तीन नहीं तहँ, साखी सब्द न ताहीं।।
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना वृच्छ फल सो है।
ओहं-सोहं अध ऊरध नहिं स्वासा लेखन को है।।
नहिं निरगुन नहिं अविगत भाई, नहिं सूछम-अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अवगत भाई, ये सब जग के मूल।।
जहँ पुरुष तहँवा कछु नाहीं कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरवाना।।

यही कहा है लक्ष्य मनुज का-
परम पुरुष को पाना;
उसके ऊँचे उस आसन तक-
अपने को ले जाना।

इसीलिए षट् चक्रों के-
बेधन की बात बतायी;
जिससे साधक की होती है-
राह अतुल सुखदायी।

क्रिया-योग के सब साधन का-
दर्शन होता अविकल;
अजपा जाप जगे इसकी भी-
मिलती बातें अविरल।

ज्ञान-योग की बात नहीं है-
वहाँ एक भी बाकी;
भक्ति-योग भी साथ-साथ है-
ज्योति लिए विभुता की।

इसीलिए वे परम ब्रह्म को-
अपना प्रियतम कहते;
उससे मिलने को हो व्याकुल-
सदा तड़पते रहते।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विसराम।।
बिरहिनि ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन केहि काम।।
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।

पाथर-घाटा-लोह, सब पारस कौणै काम।।
बासरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपिनै माहि।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, ना सुख धूप न छाहिं।।

उसी अगम से मिलने को वे-
हर क्षण विह्वल रहते;
उसका जाम-प्रेम का पीकर-
उसकी बातें कहते।

कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर दिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रह्या, और अमल क्या खाय।।
राता-माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय।।

प्रेम-विरह की ज्वाला में ही-
प्रेमी है नित जलता;
संत कबीर हृदय से सब दिन-
प्रभु-हित रहा मचलता।

इसी प्रेम का मधुरस पीकर-
सदा रहे मतवाला;
छिपा न पाए जग से अपने-
अन्तर-तर की ज्वाला।

साधक के जो परम ज्ञान का-
लक्ष्य जगत में मिलता;
उससे ही षट्-चक्रों का दल-
अनायास ही खिलता।

वहाँ तलक आने में साधक-
को है गुरु का संबल;
इसके आगे स्वतः बिखरता-
उसका सात्विक परिमल।

संत कबीर भक्त थे जग को-
राह दिखाने वाले;
तिमिर-ग्रस्त धरती पर जीवन-
जोत जगानेवाले।

•

उसके चरण-कमल पर जग का-
अर्पित हर क्षण वंदन;
युग-द्रष्टा उस महा-पुरुष का-
करते हैं हम अभिनन्दन।

इक्कीसवाँ सर्ग

साधक संत परम ज्ञानी जन-
अगम लोक में रहते;
और वहीं से अलख निरंजन-
की सब बातें कहते।

उनकी दृष्टि सदा है निर्मल-
कलुष नहीं रह पाता;
सब जीवों में वही ब्रह्म बन-
नित रहता मुसकाता।

किन्तु वहाँ तक वही पहुँचता-
खुद को जिसने जाना;
इस धरती पर रहकर जिसने-
अपने को पहचाना।

अपने-पन को बिन पहचाने-
भेद नहीं मिट पाता;
दृष्टि न निर्मल होती, प्रभु का-
रूप न दृग में आता।

यह साधन है इसी धरा का-
मानव-तन से होता;
कर्मों के साधन का बोझा-
यह शरीर है ढोता।

इसीलिए मानव-तन जग में-
सदा श्रेष्ठ कहलाता;
इसी योनि में साधन करने-
का शुभ अवसर पाता।

जिसने अपने इस जीवन में-
किया नहीं कुछ साधन;
किया न मानव तन में रहकर-
जीवन में आराधन।

उसका व्यर्थ शरीर जगत में-
वही मूढ़-अज्ञानी;
ऐसा ही कहते आए हैं-
साधु-संत औ' ज्ञानी।

कर्म-क्षेत्र है तन ही नर का-
इसमें ही सब मिलता;
अपने-पन के साधन से ही-
सुमन धरा का खिलता।

यही शरीर मिला है जिसमें-
है ब्रह्माण्ड समाया;
इसी पिण्ड को उस अनन्त का-
रूपक है बतलाया।

इसीलिए यह आवश्यक है-
इस शरीर को जानें;
उस अनन्त को इसके माध्यम-
से ही हम पहचानें।

जिसने देखा खुद को उसने-
उस अनन्त को देखा;
उसके सब कर्मों में मिलता-
प्रभु का निर्मल लेखा।

संत कबीर यही कहते थे-
घट-घट में है साईं;
बाहर की यह सृष्टि उसी की-
एक तुनुक परिछाईं।

उनके थे वे साधन जिससे-
दृष्टि विमल हो जाती;
जिसके आगे वस्तु न कोई-
भेद-भरी रह पाती!

अपने-पन में प्रभु है गोपन-
उसे देख जो लेता;
सब जीवों पर वही निछावर-
तन-मन-धन कर देता!

अतः प्रथम अपने को जानो-
तब प्रभु को पहचानो;
संत कबीर यही कहते थे-
इसी सत्य को मानो।

उनकी बातें अनुभव की थीं–
ठोस धरा पर उतरी;
सत्य–स्वरूप, नहीं थी कोई–
सपने में से उभरी!

इसीलिये तो ताल ठोक कर–
अपनी बात सुनाते;
सच्चे अनुभव की ही सबको–
बातें सभी बताते!

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायों, बार–बार वाको क्यों खोले।।
हलकी थी तब चढ़ी तराज, पूरी भई तब क्यों तोले।
सूरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले!!
हंसा पाए मान सरोवर, ताल–तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घट माँही, बाहर नैना क्यों खोले।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले।।

कहा सभी से ही कबीर ने–
दुनिया हर क्षण मिटती;
जिसने प्रभु को देखा उसके–
आगे कभी न टिकती!

दुनिया क्या? सब क्रिया–कर्म–भी–
दान–मान–व्रत साधन;
शेष न रहते उसके सम्मुख–
बाह्य दृष्टि परि साधन!

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरिजाय!
राम-सनेही, ना मरै, कह कबीर समुझाय!!

पाप-पुण्य भी नहीं वहाँ पर-
तनिक दिखाई पड़ता;
वहाँ न रहने पाती तिल भर-
किसी तरह की जड़ता।

सभी जगह औ सभी काल से-
वह ऊपर उठ जाता;
किसी जगह पर पाप-पुण्य में
भेद नहीं वह पाता!

यों तो हिन्दू कहते काशी-
है सबसे ही पावन;
यहाँ मरा जो, पाता निश्चय-
स्वर्ग सदा मनभावन।

किन्तु कबीर बताते माटी-
एक धरा की जानो;
सभी जगह है पावन इसमें-
तनिक न दुविधा मानो!

इसीलिए वे अन्तकाल में–
मगहर ही थे आए;
यहीं पहुँच कर जीवन का वे–
अन्तिम समय बिताएं

लोका मति के भोरा रें
जो कासी तन तजै कबीरा
तौ रामहि कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे
इहै जनम का लाहा रे।
राम-भगति-परि जाको हित-चित
ताकौ अचिरज काहा रे।
गुरु-परसाद साध की संगति
जन जीते जाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे संतों
भ्रम परै जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर
हिरदै राम सति होई रे।

मगहर में ही आ कबीर ने–
यह शरीर था त्यागा;
चिर-निद्रा में भू पर सोकर–
परम धाम में जागा।



थे कवीर जन-जन के प्यारे-
सव के परम सचेता;
हर प्राणी के शुद्ध कर्म के-
वे थे शुभ्र प्रणेता।

इसीलिए उनके शव सम्मुख-
हिन्दू-मुस्लिम आए;
दोनों ने उस परम पुरुष के-
आगे शीश नवाएं।

हिन्दू कहते इनके शव को-
अग्नि-समर्पित कर दें;
मुस्लिम कहते- दफना कर हम-
भू को अर्पित कर दें।

दोनों दल थे अपने-अपने-
भावों के अनुगामी;
दोनों यही समझते केवल-
मेरे ही हैं स्वामी।

इसी मोह में सभी पड़े थे-
बोल न कुछ भी पाते;
ऐसी थी यह वात कि सब को-
कैसे वे बतलाते?

तभी अचानक एक अनोखा-
चमत्कार हो आया;
शव की चादर को जैसे ही-
सब ने वहाँ उठाया।

देखा सबने फूल-फूल ही-
केवल फूल भरे हैं;
शव कबीर का वहाँ नहीं था-
फूल विपुल बिखरे हैं।

फूलों के हर दल में लगते-
थे कबीर मुस्काते;
फूलों की जीवंत छटा में-
अपना रूप दिखाते।

कुछ फूलों से हिन्दू-जन ने-
सब संस्कार किये थे;
दफनाने को मुल्लाओं ने-
भी कुछ फूल लिए थे।

दोनों की सद्-इच्छाओं का-
पालन वहाँ हुआ था;
ऐसा अद्भुत कार्य धरा पर-
अब तक कहाँ हुआ था।

सभी जीव थे इनके अपने-
आखों के ही तारे;
प्राणि मात्र थे इस कबीर के-
प्राणों से भी प्यारे।

इसीलिए मरने पर भी कुछ-
भेद न मन में माना;
एक तरह का रूप पड़ा था-
सबको ही दिखलाना।



युग के द्रष्टा, पुरुष-शलाका-
थे कबीर इस भू पर;
सभी तरह चैतन्य-परम थे-
ज्योतिर्पुंज विभाकर।

ऐसे जन ही चिरजीवी हैं-
कभी नहीं ये मरते;
अपनी निर्मल वाणी से ये-
सबका ही हित करते।

समय-काल बढ़ता रहता है-
बीत रहे संवत्सर;
किन्तु चिरंतन रहते नभ में-
चंदा और दिवाकर।

उसी तरह सद्-धर्म-प्रणेता-
भू पर अजर-अमर हैं;
दिग-दिगन्त तक गूँज रहा जो-
उनका पावन स्वर है।

जीवन के घट में जब विष का-
घोल कहीं बढ़ जाता;
उसे पान करने को भू पर-
नीलकंठ है आता।

समय-काल की सत्पुरुषों को-
देता है आमंत्रण;
जब भी जिसकी रही जरूरत-
आया है वह उस क्षण।

यही प्रकृति का अमर नियम है-
सदा यही है चलता;
प्रात-प्रभा में सूरज उगता-
संध्या में वह ढलता।

किन्तु गगन में सूर्य-चन्द्र ज्यों-
रहते हैं अविनश्वर;
उसी तरह ये ज्योति-पुरुष भी-
कभी न मरते भू पर।

उनकी वाणी यशःकाय है–
सब दिन रहती गुंजित;
शब्द–शब्द में सजग उसी का–
स्वर रहता है मुखरित।

यही डोर है जिसे पकड़कर–
भव–सरिता नर तरते;
इनके इंगित पर चलकर सब–
जीवन पावन करते।

जिसके मन में सुभग चेतना–
क्षण भर भी जगती है;
इसी ज्योति के साथ भावना–
स्वतः वहाँ लगती है।

यशःकाय के दृग से ही ये–
देख रहे हैं भव को;
होकर भी अदृश्य नियंत्रित–
करते भव–उद्भव को।

  

इन्हीं शलाका दिव्य-पुरुष को–
हम भी वन्दन करते;
भाव-भरे उस दिव्य मूर्त्ति के-
चरणों पर सिर धरते।

  

करता हूँ आह्वान जगत को-
इसको ही अपनाओ;
उनके ज्योति-समुज्ज्वल पथ पर-
अपने पाँव बढ़ाओ।

आज भुवन के नभ में झाँको-
श्याम घटा घहराती;
जाने कैसी विपद-दुंदभी-
विकट रागिनी गाती।

शान्ति नहीं है कहीं हृदय में-
सब जन तड़प रहे हैं;
धरती पर जाने कितनों के-
शोणित लाल बहे हैं।

शमित करो उत्पात धरा पर-
शान्ति-लहर सरसाओ;
दास कबीरा कहते- सब को-
अपना बन्धु बनाओ।

द्वेष-घृणा को दूर भगाओ-
सब में प्रभु को देखो;
कण-कण तक में तुम हो-
निर्मल भाव परेखो।

कविवर! संत प्रभामय पौरुष-
अपना हमें बनाओ।
जड़-जीवन से ग्रसित मनुज को-
चेतन-मार्ग दिखाओ।

जय कबीर! जय युग के द्रष्टा।
तुम्हें नमन हम करते।
संत! तुम्हारे पद-पद्मों पर-
भाव सुमन हैं धरते।।

समाप्त

नाम	माणकचन्द रामपुरिया
आत्मज	स्व सोभागमल जी रामपुरिया
जन्मतिथि	8 दिसम्बर, 1934
शिक्षा	साहित्यरत्न, आयुर्वेद रत्न (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) साहित्याचार्य (हिन्दी विद्यापीठ मुम्बई)
सम्मान-अभिनंदन	(अ) राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर द्वारा विशिष्ट साहित्यकार सम्मान (आ) पचाल शोध संस्थान, कानपुर द्वारा 'साहित्य वारिधि' सम्मान (इ) हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद द्वारा महोपाध्याय उपाधि से सम्मानित (ई) राजस्थानी विकास मंच संस्थान जालौर द्वारा राजस्थानी साहित्य के डाक्टर की मानद उपाधि से सम्मानित (उ) कलकत्ता एवम् बीकानेर स्थित अनेक साहित्यिक सांस्कृतिक संगीत कला, सामाजिक संस्थाओं द्वारा विभिन्न अवसरों पर अभिनंदन
प्रसारण	आकाशवाणी द्वारा

संस्थाओं के
आजीवन सदस्य 1 . . . . . रिया विद्यानिकेतन बीकानेर (संस्थापक सदस्य) 2 . सोभागमल रामपुरिया चेरिटी ट्रस्ट बीकानेर . . ट्रस्टी) 3 माणकचन्द प्रदीप कुमार रामपुरिया . ट्रस्ट कलकत्ता (संस्थापक ट्रस्टी) 4 . जैन सभा कलकत्ता (पूर्व अध्यक्ष वर्तमान ट्रस्टी) 5 साधु मार्गी बीकानेर जैन श्रावक संघ तथा जैन सेवा समिति बीकानेर (पूर्व अध्यक्ष) 6 इस्कॉन विश्वव्यापी कृष्णा कॉन्शियसनेस- (. पैट्रन) 7 नागरी प्रचारिणी सभा काशी 8 राइफल एसोसियेशन ऑफ इण्डिया 9 . . एसोसियेशन सी ए बी (पश्चिम बंगाल)

सम्भ्रमण	हॉंगकौंग, जापान, . इंग्लैण्ड, फ्रांस . आदि देशों की . एवं सांस्कृतिक यात्राएँ

सम्पर्क
रामपुरिया भवन रामपुरिया मार्ग बीकानेर-334 001
दूरभाष 520535

रामपुरिया निवास 41 ई. . . रोड
कलकत्ता-700 025 दूरभाष 474-6871